राग और सौन्दर्य के कवि : कालिदास

अभिराज राजेन्द्रमिश्र

सौन्दर्यरागयोराधाराधेयसम्बन्धोऽस्ति। सौन्दर्यं सरोवर-श्चेत् रागस्तत्र कमलायते। एतादृशरागसौन्दर्ययोरेव कविः कालिदासः। कालिदासस्यापि सौन्दर्यवर्णनं द्वेधा-लोकधर्मि नाट्यधर्मीति। उभयविधं सौन्दर्यं रागं च कालिदास-कृतिभ्यः उदाहरणानि प्रस्तुत्य सविस्तरं निरूपयति प्रबन्धा।

सौन्दर्य तथा राग (प्रेम) में आधाराधेय-सम्बन्ध है। यदि सौन्दर्य एक सरोवर है तो राग, उसमें खिला हुआ कमल। यदि सौन्दर्य निरभ्रशारदीय आकाश है तो राग, उसमें द्युतिमान् पार्वण चन्द्र। यदि सौन्दर्य बीज है तो राग उस बीज का अंकुर है।

ऐसे ही राग एवं सौन्दर्य के कवि हैं कालिदास। अन्यान्य पूर्ववर्ती कवियों, विशेषतः वाल्मीकि एवं व्यास के ही समान, कालिदास का भी सौन्दर्यवर्णन दो प्रकार का है– लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी। नाट्यशास्त्रकार भरत ने लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी को प्रभूत-विस्तार के साथ समझाया है।[१] संक्षेप में, लोकप्रकृति-लोकसंवेदना एवं लोकनिसर्ग को अपना मानक बनाने वाले (काव्य अथवा नाट्यगत) वर्णन **लोकधर्मी** कहलाते हैं जबकि नाट्यरूढ़ियों एवं कविसमयों (Poetic Conventions) का पालन करनेवाले असहज वर्णन **नाट्यधर्मी** होते हैं। लोकधर्मी सौन्दर्य-वर्णन का निदर्शन है–

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥

शाकुन्तल के इस सौन्दर्यवर्णनात्मक पद्य में, वल्कल वस्त्रों में भी सजी-सँवरी ऋषिकन्या शकुन्तला का हृदयोन्माथी रूप समझाने के लिये कवि ने जो भी दृष्टान्त उपन्यस्त किये हैं, वे सबके सब चिर-परिचित, नित्यदृष्ट तथा लोकोपलब्ध हैं। उनसे शकुन्तला के सौन्दर्य की विलक्षण संगति भी बैठती है। शैवाल से अनुविद्ध कमलपुष्प, कालिमा-मण्डित पूर्णचन्द्र और ठीक उन्हीं के समान दुकूल की बजाय, वृक्षों की त्वचा से निर्मित (मोटे-खुरदुरे) वस्त्रों में लिपटी कण्वतनया शकुन्तला! यह वर्णन लोकधर्मी इसलिये भी है कि इसमें नैसर्गिकता की प्रतिष्ठा है। नैसर्गिकता का अर्थ ही है किसी भी वस्तु का अपने वास्तविक (मूल) रूप में प्रकाशन। प्रकृति के सारे के सारे उपादान अयत्नसिद्ध सौन्दर्य से युक्त होते हैं। गगनचुम्बी शिखरों वाली पर्वतमालायें, हजारों रंग के पुष्प, निर्झरों का मनोरम संगीत, तितलियों की अकल्पनीय अद्‌भुत चित्ररचना, शुक-पिक-चातक-मयूरादि के मादक कण्ठस्वर, उदीयमान बालरवि की अरुणिमा, सन्ध्याकालीन घनघटाओं के वर्णपट, प्रावृट् पयोदों की धमाचौकड़ी और नैश-नभ की नक्षत्र-सुषमा! कहाँ तक गिनाया जाय? चतुर से चतुर समर्थ चित्रकार भी प्रकृति का अनुकरण नहीं कर सकता। निमित्त एवं उपादान दोनों ही दृष्टियों से, मनुष्य प्रकृति के समक्ष अकिञ्चन, असमर्थ एवं कृपण ही प्रतीत होता है।। तभी तो उसे मानवीय-सौन्दर्य के सारे प्रतिमान, प्रकृति से ही उधार माँगने पड़ते हैं– सिंह जैसा गर्जन, चन्द्र जैसा मुख, पुष्प जैसी कोमलता, कोकिल जैसा कण्ठ, पपीहे जैसी हूक, मोर जैसी पिहक, विद्युत् जैसा उन्मेष, सागर जैसी गहराई, पर्वत जैसी ऊँचाई, आकाश जैसा विस्तार, वसन्त जैसी समृद्धि, पतझर जैसा दारिद्र्य, हिरनी जैसी चाल आदि आदि।

वस्तुतः प्रकृति एवं मनुष्य (जड़ एवं चेतन) संसृतियात्रा के नियत सहयात्री हैं। सांख्यदर्शन ने तो, अन्धपङ्गुन्यायेन, दोनों के सहभाव से ही सृष्टि का विकास निरूपित किया है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति सक्रिय तो है परन्तु चैतन्य-विहीन (जड़) है। जबकि पुरुष चेतन तो है परन्तु निष्क्रिय (निस्संग, निर्विकार) है। फलतः चेतनपुरुष के सृष्टिक्षम प्रकृति से एकाकार होते ही सर्जना प्रारंभ हो जाती है।

प्रकृति का परिवेश ही लोक कहा जाता है और प्रकृति का धर्म (स्वभाव, प्रवृत्ति) ही काव्य-नाट्य में लोकधर्मी कहा जाता है।

नाट्यधर्मी का अर्थ है वह धर्म जो (लोक में नहीं) मात्र नाट्य (अथवा काव्य) में दृष्टिगोचर हो, जैसे सौभाग्यवती रमणी के आलिङ्गन मात्र से आम में बौर आ जाना, नृत्य से कर्णिकार का पुष्पित हो जाना, प्रेम का रंग लाल, पाप

का रंग काला, तथा पुण्य (हास्य) का रंग श्वेत होना। इसी प्रकार, संदर्भ-विशेष के वर्णनार्थ पहले ही जो मानक निश्चित हैं उनका अनुकरण भी नाट्यधर्मी है। स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरने का अनुभव, मनुष्य के लिये तो असंभव ही है। परन्तु अतीन्द्रियज्ञान-सम्पन्न योगसिद्ध ऋषियों के लिये नहीं। आचार्य भरत ने वह अनुभव भी नाट्यशास्त्र में लिपिबद्ध किया है। अब, यदि कोई कवि उसी मानक को प्रमाण मान कर, अपने काव्य या नाट्य में कोई दृश्य प्रस्तुत करता है तो उसे नाट्यधर्मी कहा जायेगा।

शाकुन्तल नाटक के प्रथम अंक में आया भ्रमरबाधानिवारण सन्दर्भ नाट्यधर्मी सौन्दर्यवर्णन का सटीक उदाहरण है–

यतो यतः षट्चरणोऽभिवर्तते ततस्ततः प्रेरितवामलोचना।
विवर्तितभ्रूरियमद्य शिक्षते भयादकामापि हि दृष्टिविभ्रमम्॥

–शाकु ०१.२०

मैंने अपने एक पृथक् आलेख में इस प्रकरण की अत्यन्त विस्तृत एवं सोदाहरण समीक्षा की है कि जहाँ भास नाट्यशास्त्र की देशनाओं की सर्वात्मना उपेक्षा करते हैं वहीं कालिदास उनका प्रतिपद अनुवर्तन! यह तथ्य भी सबल प्रमाण है भास के भरत का पूर्ववर्ती होने तथा कालिदास के परवर्ती होने का।[२]

वस्तुतः लोकधर्मी वर्णनों से ही कविता जीवन्त एवं विश्वसनीय बन पाती है। नाट्यधर्मी वर्णन जहाँ कविकल्पनाजन्य होते हैं, मात्र विद्वानों का बौद्धिक अनुरञ्जन करने में समर्थ होते हैं वहीं लोकधर्मी वर्णन समाज के गर्भ से जनमते हैं। उनका सीधा सम्पर्क भी समाज से ही होता है। पुत्रजन्म, उपनयन, विवाहादि संस्कार, पर्व-महोत्सव, विजयाभियान, स्वयंवर, इन्द्रजालादि क्रीडाएँ, पुत्री की विदाई, वन्य गज, सिंह एवं वानर आदि का आतंक– ये सारी लोकधर्मी घटनाएँ समाज में ही घटती हैं। फलतः विभावादि के रूप में जब कवि इन्हें अपने कथानक में उपन्यस्त करता है तो ये पूर्वपरिचयवश पाठकों को बलात् आकृष्ट करती है तथा अपनी रसवत्ता से उन्हें भिंगो देती है।

कालिदास इसी लोकधर्मी कविता के अप्रतिम प्रतिनिधि हैं। वर्णन चाहे मानवी नारी का हो चाहे देवी (उमा)अप्सरा (उर्वशी) यक्षिणी अथवा तापसी का, कालिदास उसका सौन्दर्य लौकिक धरातल पर ही करते हैं। मेघदूत की नायिका यक्षिणी है, मानव-समाज से परे है वह। उसका निवास भी अलका में है जो हिमालय की गोद में है। फिर भी यक्षिणी का सौन्दर्य कुछ वैसा ही है जैसा कि अरण्यवासिनी शकुन्तला का।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ –उ.मेघ १८

जो कालिदास यक्षिणी के सौन्दर्य से अभिभूत हो कर यह कहते हैं कि– **सृष्टिराद्येव धातुः,** वही शकुन्तला के विषय में भी ऐसा कुछ ही कहते हैं– **स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः।** कवि को ऐसा ही विस्मय उर्वशी के भी विषय में है–

वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ –विक्रमो १.१०

परन्तु सौन्दर्य के प्रतिमान देवी, यक्षिणी, अप्सरस तथा मानवी में एक जैसे ही हैं और वे प्रतिमान नाट्यधर्मी नहीं, विशुद्ध रूप से लोकधर्मी ही हैं। यक्षिणी में श्रोणीभार है तो शकुन्तला में 'जघनगौरव' है और 'नितम्बगुरुता' है। यक्षिणी चकितहरिणीप्रेक्षणा है तो शकुन्तला भी–

अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभि-
राहोनिवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः॥

यक्षिणी यदि अलसगमना है तो शकुन्तला भी मन्दगति है **(यातं यच्च नितम्बयोर्गुरुतया मन्दं विलासादिव)** यक्षिणी पक्वबिम्बाधरोष्ठी है तो शकुन्तला के अधर में भी किसलयराग **(अधरः किसलयरागः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः)** है। वस्तुतः नारीसौन्दर्य का एक स्थिर मानक है कालिदास के मन में, जो कभी बदलता नहीं। नायिकाएँ बदलती हैं, उनकी कोटियाँ बदलती हैं। परन्तु उनकी रूपसम्पत् नहीं बदलती। यही वैशिष्ट्य है कालिदास का!

कालिदास सौन्दर्य के दोनों पक्षों– शारीरिक एवं आत्मिक– को चित्रित करते हैं। गो कि आत्मिक सौन्दर्य के प्रति वह अधिक आश्वस्त दिखते हैं। अपने समस्त कथानकों में उन्होंने विप्रलम्भ की अग्नि में सौन्दर्य-सुवर्ण को तपाकर ही, उसे दाम्पत्य-भूषण बनने दिया है। मांसल-सौन्दर्य का दुर्वार आकर्षण तथा भोग की त्वरा कालिदास को सह्य नहीं। वह उस प्रेम के पक्षधर हैं जो शरीर में नहीं, चेतना में प्रतिष्ठित होता है। ऐसे अनिर्वचनीय प्रेम को कवि **'तथाविधं प्रेम'** कहता है।

वस्तुतः आत्मिक प्रेम की प्रतिष्ठापना में कालिदास भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास से प्रभावित दिखते हैं। **मार्कण्डेयपुराण** के दुर्गासप्तशती अंश में व्यास ने लिखा है–

पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्।
तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम्॥

बड़ा गूढ आशय है इस मंत्र में प्रयुक्त शब्दों का। पत्नी यदि मनोरमा न हुई तो न ही (पति के) मनोवृत्त का अनुसरण करेगी और न ही भयावह संसार रूपी सागर को पार कराने वाली होगी। इसका समानान्तर गूढार्थ यह है कि यदि पत्नी रूपगर्विता हुई तो अनियन्त्रित प्रकृति की होगी और पति को ले डूबेगी। पत्नी के मादक सौन्दर्य ने कैसी-कैसी विपदाएँ पैदा की हैं, इतिहास इसका साक्षी है। आम्रपाली, पद्मिनी, रूपमती, नूरजहाँ इसका उदाहरण हैं।

वस्तुतः मनोरमात्व ही सौन्दर्यरूपी पुष्प की सुगन्ध है। यह मनोरमात्व अंगसौष्ठव से नहीं, प्रत्युत व्यवहार-सौष्ठव से आता है। इसी सौन्दर्य की शिक्षा महर्षि कण्व शकुन्तला को देते हैं–

सुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥ –शाकु. ४.१८

मनोरमता ही लावण्य है। सौन्दर्य तथा लावण्य (लोक-भाषा में सुघरपन, सुघरई तथा लुनाई) क्रमशः मूर्त एवं अमूर्त होते हैं। एक प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है तो दूसरा अनुभव-संवेद्य! सौन्दर्य अंगसौष्ठव-मात्र है, स्थूल है, दृष्टिबन्धक्षम है, शरीरभोग्य है। परन्तु लावण्य प्रसिद्धावयवव्यतिरिक्त, निखिलशरीरव्यापी, सूक्ष्म, चैतन्यबन्धक्षम एवं मनसा भोग्य होता है। सौन्दर्य तो चढ़ती उम्र के साथ, विविध विवर्त झेलता वार्धक्य आते ही समाप्त हो जाता है, अपना सारा आकर्षण खो देता है। परन्तु आत्मिक (सांस्कारिक) सौन्दर्य का वयोवृद्धि से कुछ लेना-देना नहीं। उसका रस (आकर्षण) तो वार्द्धक्य में भी नहीं छीजता **(जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः – भवभूति)**

आत्मिक सौन्दर्य के प्रति विशेष पक्षपात होते हुए भी कालिदास शारीरिक-सौन्दर्य के दुर्वार आकर्षण को स्वीकार करते हैं। परन्तु आधेयरूप सौन्दर्य तथा तज्जनित प्रेम के आधार तो भिन्न होते हैं। तो क्या विविधाश्रय वाले सौन्दर्यों की परिणति एक ही होती है? क्या सामान्य रमणी, पत्नी, पुत्री, भगिनी

तथा जननी, किञ्च एक रूपाजीवा का भी सौन्दर्य तथा प्रेम भिन्न नहीं होता? इस सन्दर्भ का निरूपण महाकवि कालिदास अद्‌भुत क्षमता एवं विवेक के साथ करते हैं। सौन्दर्य के विविध आश्रयों (कन्या, वधू, गणिकादि) का पारस्परिक भेद कालिदास जिस सलीके से करते हैं वह विलक्षण है। वह एक ऐसा परिवृत्यसह शब्द-विशेष प्रयुक्त कर देते हैं जो दूसरे सौन्दर्याश्रय को ग्राह्य ही नहीं होगा। यही है कवि की शब्द-प्रत्यभिज्ञा जिसे ध्वनिकार तथा वक्रोक्तिजीवितकार ने समान रूप से सराहा है।[३]

कन्या का सौन्दर्य तो वर्णित करना ही मर्यादा के विरुद्ध है। जाने कितनी किंवदन्तियाँ इसका पोषक प्रमाण हैं। कुमारसम्भव में **'जगतः पितरौ पार्वतीपरमेश्वरौ'** का सम्भोग शृङ्गार वर्णित करने के कारण कालिदास की तथा मान में रूठी पत्नी (तथा अपनी पुत्री) को मनाने के लिये रचे गये पद्य का चौथा चरण पूर्ण कर, जामाता बाणभट्ट की सहायता करने वाले, पुत्री से अभिशप्त मुरारि की क्या दुर्गति हुई, इसको सभी सहृदय जानते हैं। दोनों को कुष्ठ रोग हुआ। कालिदास को मुक्ति मिली भगवती की आराधना से, **श्यामलादण्डक** लिखकर तथा मुरारि को त्राण मिला सूर्य की कृपा से, **सूर्यशतक** लिखकर।

परन्तु ये सारे भय असमर्थ कवियों को हो सकते हैं। समर्थ कवि तो व्यञ्जना का आश्रय लेकर, बिना कहे ही सब कुछ कह देता है। जब प्रतीयमानार्थ-पारंगत है कवि तो वाच्यार्थ की, शब्दशः अभिप्राय प्रकट करने की आवश्यकता ही क्या है? इसी सामर्थ्य एवं प्रतिभासन्निवेश के साथ कालिदास 'कन्या' का भी सौन्दर्य वर्णित करते हैं। पूरे पद्य में न कन्या के शरीर-सौष्ठव की चर्चा है न हाव-भाव की। फिर भी कन्या का अप्रतिम रूप बता दिया गया है मात्र एक शब्द-विशेष से।

मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि-
र्मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
सङ्क्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः॥ –उत्तरमेघ-४

इस पद्य में अप्रतिम कन्यासौन्दर्य-सूचक शब्द है– अमरप्रार्थिताः। देवताओं द्वारा भी चाही गई। अर्थित (माँगी गई) ही नहीं, बल्कि प्रार्थित! प्रकृष्टं यथा स्यात्तथा अर्थिताः। आखिर देवगण यक्षकन्याओं के प्रार्थी क्यों हैं? उत्तर है– जीवनसंगिनी बनाने के लिये, परिणयार्थ! अब इसके बाद भी क्या यह बताना (शब्दशः) शेष है कि यक्षकन्याएँ अतिशय रूपवती थीं? देवों की सौन्दर्यचेतना

(Aesthetic Sense) तो निश्चय ही समूची सृष्टि में उत्कृष्टतम है। यदि ऐसे देव भी यक्षकन्याओं के प्रार्थी हैं तो निस्सन्देह उनका सौन्दर्य विलक्षणकोटिक होगा।

यह कविप्रतिभा का ही चमत्कार है कि कन्या-सौन्दर्य वर्णित भी हो गया और मर्यादा भी नहीं टूटी।

परन्तु वही कालिदास जब वधू-सामान्य का सौन्दर्य वर्णित करते हैं तब सौन्दर्याभिव्यक्ति में कत्तई संकोच नहीं करते। क्योंकि यहाँ मर्यादा टूटने का कोई प्रश्न ही नहीं। वधू तो होती ही है रूपपुत्तलिका। वह बेटी अथवा जन्मदात्री नहीं। वह वधू मात्र है। कोई विशिष्ट वधू भी नहीं, प्रत्युत सामान्य वधू। फलतः उसका सौन्दर्य तो ख्यापनार्ह है ही।

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥ -उत्तरमेघ-२

वेशाङ्गना के सौन्दर्यवर्णन में कालिदास उन तथ्यों का वर्णन करते हैं जो उनके स्वरूप-लक्षण के अंग हैं। उदाहरणार्थ जिस किसी भी नागरजन के साथ स्वैर विहार, मदिरापन, रतिसुख आदि। वस्तुतः ये उत्तम स्त्रियाँ आधुनिक बारबालाओं (Call Girls) जैसी हैं-

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु॥ -उत्तरमेघ-३

अभिसारिकाएँ कुलवधू एवं वेशाङ्गना के मध्य में आती हैं। इन्हें हम प्रतीक्षारत सहधर्मिणी (Life Partner in Waiting) की संज्ञा दे सकते हैं। किसी सामाजिक विघ्न-बाधा के कारण जब प्रणयि-युगल विवाहसूत्र में नहीं बँध पाते थे, तब लोगों की आँखें बचाकर वे कहीं एकान्त में मिलते थे। यह पहल प्रायः रमणी की ओर से ही होती थी। उसे अभिसारिका कहा जाता था। शुक्लपक्ष की रातों में, धवलचन्द्रिका के साथ शरीर-शुक्लता के कारण एकाकार, रमण करने वाली प्रेमिकायें शुक्लाभिसारिका कही जाती थीं। इसी प्रकार कृष्णपक्ष की रातों में काले कञ्चुक में शरीर की शुक्लता को छिपाकर, प्रिय से मिलने वाली रमणियाँ कृष्णाभिसारिका कही जाती थीं।

प्राचीन पौराणिक एवं साहित्यिक सन्दर्भों से प्राप्त होत है कि अभिसारिकाओं के प्रति समाज सदय, सहिष्णु एवं आस्थालु होता था। अभिसारिकाएँ वेश्याओं की तरह उपेक्षणीय एवं निन्द्य नहीं थीं क्योंकि उनका प्रणय-सम्बन्ध किसी एक ही व्यक्ति के साथ होता था। अतः अभिसारव्रत पतिव्रत के ही समान आदरणीय था।

राजराज कुबेर के पुत्र नलकूबर के साथ देवांगना रम्भा का अभिसार रामायण में वर्णित है। **मृच्छकटिक** प्रकरण में गणिका वसन्तसेना भयावह वर्षा में ही अभिसार करती है नायक चारुदत्त के साथ। वह चारुदत्त की 'गुणनिर्जित दासी' है।

कवियों तथा चित्रकारों ने अभिसार का वर्णन अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में किया है। राजपूत एवं पहाड़ी शैली के चित्रों में तो अभिसारिका को विषधर नागों की बीच चलती दिखाया गया है। अभिसारिका कितनी साहसी, दृढ़निश्चयी, निर्भय एवं उत्कट प्रेमाभिलाषिणी होती थी, उसका प्रमाण हमें वसन्तसेना के एक ही कथन से प्राप्त हो जाता है–

गर्ज वा वर्ष वा शक्र! मुञ्च वा शतशोऽशनिम्।
न शक्या हि स्त्रियो रोद्धुं प्रस्थिता दयितं प्रति॥

ऐसी ही किसी अभिसारिका का सौन्दर्य एवं राग कालिदास प्रस्तुत करते हैं पूर्वमेघ में। लड़खड़ाती चाल के कारण उसके केशकुन्तलों में गुँथे मन्दारपुष्प, कपोल की पत्ररचनायें तथा कानों के सुवर्णकमल नीचे गिर पड़े हैं। फलतः सवेरा होते ही इन अभिसारिकाओं का रात्रिकालीन मार्ग पहचान में आ जाता है–

गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥ –उत्तर. ९

सौन्दर्य एवं राग का कोई ऐसा विवर्त नहीं जो कालिदास की पकड़ से छूटा हो। कटाक्ष (भ्रूभङ्ग) मात्र से प्रिय को देखना[४] पीछे मुड़कर प्रिय को देखना[५], प्रिय के सम्मुखीन होने पर दृष्टि झुका लेना,[६] दृष्टि का परिस्फुरित होना,[७] अश्रुबोझिल होना,[८] चिन्ता से पथरा जाना,[९] दृष्टि का साभिलाष होकर कहीं पर केन्द्रित हो जाना[१०]– ऐसे सैकड़ों नेत्रसौन्दर्य कालिदास यथावसर वर्णित करते हैं।

वासकक्ष में विद्यमान भोगरत दम्पती का चित्रण भी, नारी के पूर्वोक्त समस्त रूपों से भिन्न है। अर्धाङ्गिनी जीवनसर्वस्व है। कालिदास उसे **जीवितं मे**

द्वितीयम् (मेघदूत) गृहिणी-सचिव-सखी तथा शिष्या (अजविलाप : **रघुवंशम्**) मानते हैं। देवाधिदेव शिव भी स्वयं को उमा की तपस्या से क्रीत दास-मात्र मानते हैं–

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष– चारों ही पुरुषार्थों की सिद्धि में शक्ति अथवा सामर्थ्य चाहिये। वह शक्ति ही नारी है। तंत्र में नारी इकार है। शिव में विद्यमान इकार तत्त्व भी शक्ति (उमा) है। उस उमा से सम्पृक्त शिव ही सर्व-समर्थ शिव हैं, अन्यथा (इकार-विरहित शिव) शव-मात्र। पति एवं पत्नी ही आधिदैविक स्तर पर विष्णु एवं लक्ष्मी हैं तथा आध्यात्मिक स्तर पर शक्ति एवं शक्तिमान्। इसीलिये यज्ञस्वरूप विष्णु की समर्चना अकेले पुरुष द्वारा की जानी वैध नहीं। **शतपथब्राह्मण** कहता है– **अयज्ञो वा एषः योऽपत्नीकः** अर्थात् जो पत्नीहीन है वह यज्ञ करने का अधिकारी नहीं। भगवान् राम को भी सुवर्णमयी सीता के ही साथ यज्ञ करना पड़ा। पितरों के ऋण से, सन्तत्युत्पादन द्वारा ही मुक्त हुआ जा सकता है और सन्तति-प्रसवित्री पत्नी ही होती है।

कालिदास ने दिलीप-सुदक्षिणा, रघु-देवी अज-इन्दुमती, कौसल्या-दशरथ, राम-सीता एवं कुश-कुमुद्वती के माध्यम से मानवीय दाम्पत्य का अत्यन्त महिमामय चित्रण किया है। सद्गृहस्थ के रूप में समस्त सूर्यवंशी नृपति आजन्म-शुद्ध, आफलोदय कर्मरत, आसमुद्र शासन करने वाले, स्वर्गद्वार तक रथपथ बनाने वाले, दानार्थ अर्थसंग्रह करने वाले, सन्तत्यर्थ गृहमेधी (गृहस्थ) बनने वाले थे।[११] ऐसे गृहमेधियों का दाम्पत्य एवं कामोपभोग कितना सुखद-मादक एवं सन्तर्पक था, इसे कालिदास एक पद्य में स्पष्ट करते हैं–

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासिताना-
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः॥ -उत्तरमेघ-७

राग और सौन्दर्य, जीवन की उच्चावच परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। ये परिस्थितियाँ मुख्यतः तो दो ही हैं– संयोग एवं विप्रलम्भ। परन्तु इन दोनों की भी अनेक अवान्तर भावभूमियाँ हैं जिन्हें हम उत्कण्ठा, स्मृति, उद्वेग, स्वप्न, पश्चात्ताप, अनुदर्शन, उन्माद, चित्रांकन आदि में विभक्त कर सकते हैं। महाकवि कालिदास यथावसर, यथासन्दर्भ इन सारी भावभूमियों को, पात्रों के

माध्यम से पल्लवित करते हैं। शकुन्तला की ही दो परस्पर विरोधी परिस्थितियाँ हैं। पहली स्थिति है अननुभूतकामसुखा ऋषिकन्या की। इस रूप में शकुन्तला वयः सन्धि पर आरूढ़, शुद्धान्तदुर्लभ[१२] रूप-सम्पद से संवलित एक अव्याजमनोहर[१३] ऋषिकन्या है जो दुष्यन्त को 'पुण्यों के अखण्ड फल' सी प्रतीत होती है।[१४]

दूसरी स्थिति ठीक इसके विपरीत है–

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणिः।
अतिनिष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घं विरहव्रतं विभर्ति॥ –अभि. ७.२१

यह वियोग की स्थिति है। लोभनीय यौवन, जो अंग-प्रत्यंग में सन्नद्ध था, जो सँभाले नहीं सँभलता था,[१५] अब नियमक्षाममुखता में रूपान्तरित हो उठा है, शकुन्तला अब **'बल्कलेनापि अधिकमनोज्ञा'** नहीं रह गई है। वह परिधूसर (मलिन) वस्त्रों में लिपटी निष्करुण पति के विरहव्रत का निर्वाह कर रही है। राग और सौन्दर्य की यह भी एक विशिष्ट स्थिति है।

और अन्ततः संयोग की स्थिति पुनः लौटती है 'मिलन' बनकर। जैसे राहुमुक्त कौमुदी पुनः स्फीत एवं विशद हो उठती है उसी प्रकार वियोग के नष्ट होते ही राग एवं सौन्दर्य–दोनों ही पुनरुद्दीप्त हो उठते हैं।

विरहोत्तर संयोग की तासीर ही कुछ और होती है। वस्तुतः पुनर्मिलनजन्य जागतिक सुखानन्द अनिर्वचनीय होता है जिसमें दम्पती सम्पूर्ण विरहावधि की भोगतृषा एक ही साथ शान्त कर लेना चाहते हैं। आँगन में आकाश तथा नेत्रों से ढुलके अश्रुकण में ही सागर समा जाता हैं। पुनर्मिलन में नायक-नायिका का मौन ही उनकी भाषा होती है तथा वाणी की भूमिका मन निभाने लगता है। नेदिष्ठ पुनर्मिलन का कल्पित सुख सुनें, विरही यक्ष के ही मुख से–

शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥ –उत्तरमेघ-४७

दुष्यन्त की प्रसन्नता राहुमुक्त चन्द्र की प्रसन्नता है। शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त से जो भी अनय, अत्याचार हुआ– वस्तुतः वह सब दुर्वासा-शाप के कारण।[१६] दुर्वासा का शाप ही राहु की भाँति दुष्यन्त के निर्मल-सदय व्यक्तित्व पर प्रभावी हो गया। जिस तमस्काण्ड में शकुन्तला डूबी, वह उपरागकर्तृक ही था न कि दुष्यन्तचन्द्रकर्तृक। इस तथ्य को जान लेने के बाद शकुन्तला का सन्दिग्ध

मन भी पति के प्रति आश्वस्त हो जाता है। पति-पत्नी, दोनों ही एक-दूसरे का आँसू पोंछने में प्रवृत्त हो उठते हैं–

स्मृतिभिन्नमोहतमसो दिष्ट्या प्रमुखे स्थितासि मे सुमुखि।
उपरागान्ते शशिनः समुपागता रोहिणी योगम्॥

–अभिज्ञान. ७.२२

पुरूरवा-उर्वशी का पुनर्मिलन भी ऐसी ही पुलकन दोनों के मन में पैदा करता है।[१७] पुरूरवा को खोई हुई उर्वशी वैसे ही प्राप्त होती है जैसे प्राणहीन को चेतना।

जैसा मैंने प्रारंभ में ही कहा, कालिदास अग्निदग्ध-काञ्चनाभ प्रेम के ही पक्षधर हैं, क्षणिक भोगसुख में पर्ववसित होने वाले इन्द्रियोन्माथी प्रेम के नहीं। ऐसा प्रेम तो रूपमोह-मात्र है। पारमार्थिक प्रेम तो परमोदात्त, अनुभवसंवेद्य, सात्त्विक एवं अनिर्वचनीय ही होता है। ऐसे ही प्रेम तथा प्रेमविग्रह के प्रतीक हैं शिव, जिन्हें रूपगर्विता पार्वती मात्र अपने वपुस्सौन्दर्य से पाना चाहती थीं। परन्तु अपने समक्ष ही प्रेममूल कन्दर्प को भस्मसात् हुआ देख, पार्वती संकल्पबद्ध हो उठती हैं योगी शिव को योग द्वारा ही प्राप्त करने के लिये।

तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥
इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते तत्कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥

–कुमार. ५.१.२

तप के द्वारा शिवानुराग प्राप्त करने के लिये पार्वती ने अपनी दो (तपोबाधक) वस्तुएँ गिरवी रख दीं– विलासचेष्टित तथा चंचल चितवन। धरोहर किनके पास रखा? जो उनकी रक्षा कर सकें, उसे व्यय न कर दें, उसे समय पर लौटा दें।

पुनर्ग्रहीतुं नियमस्थया तया द्वयेऽपि निक्षेप इवार्पितं द्वयम्।
लतासु तन्वीसु विलासचेष्टितं विलोलदृष्टं हरिणाङ्गनासु च॥

–कुमार. ५.१३

अद्भुत तप है हिमाचलनन्दिनी का। पुष्पशय्या पर भी करवट बदलते समय नीचे गिरे अपने ही केशपुष्प जिसे गड़ते थे वही पार्वती बाँह का तकिया बना, शय्याहीन चबूतरे पर सोने लगीं।[१८] शुष्क पर्णों का भक्षण भी त्याग कर जब

वह शिव-प्राप्ति के लिये 'अपर्णा' बन गईं तब शम्भु का आसन डिगा।[१९] परन्तु अभी भी पार्वती की शिवानुराग-निष्ठा की परीक्षा शेष थी। उस परीक्षा में भी वह खरी उतरीं।[२०] फिर क्या था? देवाधिदेव स्वयं प्रकट हो गये याचक बनकर! उन्हें देखते ही पार्वती ठिठक गईं, न आगे जाते बना, न पीछे लौटते बना।[२१] तभी पार्वती-प्रीति-विह्वल शम्भु ने जो कहना था, बेहिचक कह ही दिया–

अद्यप्रभृत्यवनताङ्गि! तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमोलौ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते॥ –कुमार. ५.८६

तपोग्नि से परिपूत यही प्रेम, निश्चय ही सांसारिक प्रेम की तुलना में महान् है, उदात्ततर है तथा नैष्ठिक है। शकुन्तला भी, मानवीय स्तर पर ही सही, यही नैष्ठिक प्रेम करती है। जब दुष्यन्त की राजसभा में शार्ङ्गरव उसे प्रेरित करता है अपने प्रेम का प्रमाण देने के लिये तो वह भी उसी 'आसाधारण नैष्ठिक' प्रेम को लक्ष्य कर कहती हैं–

संशयमुपगते तथाविधेऽनुरागे किं वा स्मारितेन?

तथाविधेऽनुरागे बड़ा गम्भीरार्थ है। शकुन्तला ने दुष्यन्त से जो प्रीति जोड़ी थी वह साधारण, सांसारिक, भोगमूलक मात्र नहीं थी। उसने तो दुष्यन्त के निश्छल प्रेम के कारण स्वयं को अर्पित कर दिया था।[२२] दुष्यन्त की स्पष्टवादिता, चारित्रिक दृढ़ता तथा निष्ठा ने ही उसे बाँध लिया था– **इदमनन्यपरायणमन्यथा. .....यदि समर्थयसे मदिरेक्षणे** आदि।

क्या ऐसा नैष्ठिक प्रेम भी 'छलावा' सिद्ध हो सकता था? यही उस प्रेम का 'तथात्व' है जो सचमुच 'अतिसन्धान' में परिवर्तित हो उठा। गो कि ऐसा था नहीं। ये सारी विप्रतिपत्तियाँ दुर्वासाशापजन्य थीं। फिर भी, उस शाप की अन्विति में साधन तो दुष्यन्त को ही बनना पड़ा। इसलिये हम दुष्यन्त को, शकुन्तला-दुर्भाग्य प्रकरण में मुक्त व तटस्थ (clean chit) नहीं ही मान सकते। रजकापवाद-प्रकरण में राम भी तो, इसी प्रकार, वैदेही के सन्तापक बने।

कालिदास प्रेम को दाम्पत्य की अक्षय निधि मानते हैं। नायक-नायिका के बिलगाव में भी यह प्रेम नष्ट नहीं होता प्रत्युत अ-भोग के कारण, एक-दूसरे के हृदय में पुञ्जीभूत होकर (कई गुना अधिक बढ़कर) प्रतिष्ठित हो जाता है–

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति॥ -उत्तर. ४९

कवि की दृष्टि में प्रेम एक महाव्यापक तत्त्व है, एक ऐसा जीवनाधायक धर्म है जिसकी संक्रान्ति जड़ एवं चेतन–दोनों में है। अन्तर बस इतना है कि चेतन प्राणी में वह व्यक्त है, स्थूल है, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर (Macrocasm) है जबकि अचेतन में वह अनभिव्यक्त है, सूक्ष्म है, अनुमेय (Microcasm) है। सामान्य जन भले ही प्रेम के इन दोनों रूपों को न देख सकें परन्तु प्रतिभाचक्षुष्क कवि से कुछ भी छिपा नहीं। फलतः वह आम्रवृक्ष से लिपटी लता[२३] तथा बादलों में कौंधती विद्युल्लता[२४] तक के दाम्पत्यानुराग को अनुभूत कर लेता है। सामान्यतः समीक्षक इसी तथ्य को कालिदास का 'जड़-चेतनसमन्वय' बताते हैं।

अपनी इस कला से कवि ने समूची सृष्टि को अखण्ड दृष्टि से देखा है। इस दृष्टि के पीछे संभवतः **श्रीमद्भागवत** में व्याख्यात **सृष्टिदर्शन** भी है जिसमें देव, मानव, जलचर, खेचर तथा उद्भिज्जादि प्राणियों का चैतन्यक्रम निरूपित करते हुए उन्हें कर्मविपाक-सिद्धान्त से जोड़ा गया है।[२५] भोगयोनि से कर्मयोनि तक आने में जीव को अनन्त यात्राएँ करनी होती हैं, परन्तु रहते हैं सभी एक क्रमिक ऊर्ध्वग यात्रा-परम्परा में। तो फिर अन्तर रहा कहाँ? जैसे एक अध्यापक तदर्थ से स्थायी, स्थायी से प्रवक्ता, प्रवक्ता से प्रवाचक, प्रवाचक से आचार्य (और आचार्य से कुलपति) बन जाता है अपनी गुणवत्ता से, यूँ ही आज का उद्भिज्ज, कल का खेचर, कल का खेचर परसों का जलचर और जलचर भी भविष्य का पशु एवं मानव है। योनियाँ बदलती हैं जीव की, परन्तु जीव नहीं बदलता। तो क्या यह संभव नहीं कि आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि भाव उस जीव के प्रत्येक विवर्त में उससे संश्लिष्ट रहें? सचमुच ऐसा ही होता है। यही है सृष्टिदर्शन, यही है शिवत्व-दृष्टि। कालिदास अपनी समस्त कृतियों में इस दृष्टि का प्रभविष्णु वर्णन करते हैं। इन वर्णनों में प्रायः किसी न किसी मानवीय सम्बन्ध का आरोप अचेतन अथवा अवचेतन प्रकृति या जीव पर कर दिया गया है। कहीं पुत्रत्व का आरोप है तो कहीं सहोदरत्व का। कहीं भगिनीत्व का आरोप है तो कहीं दाम्पत्य का। कहीं प्रतिवेशित्व का आरोप है तो कहीं बन्धुत्व का।

यक्षिणी अपने गृहपरिसर में विद्यमान बालमन्दार को पुत्र मानती है[२६] तो शकुन्तला दीर्घापाङ्ग नामक मृगपोतक को![२७] उधर, देवी पार्वती ने देवदारु वृक्ष को पुत्र मान रखा है। उसे अपने स्तनक्षीर से सींचकर बड़ा किया है और वन्यगजों की कपोल-कण्डूति-घर्षण से उसे सुरक्षित रखने के लिये, उन्होंने रक्षक के रूप में मायावी कुम्भोदर नामक सिंह को नियुक्त कर दिया है–

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिस्सृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः॥ -रघु. २.३६

आश्रमवृक्षों के प्रति शकुन्तला का सोदरोचित स्नेह है।[२८] वे उसे पानी पिलाने के लिये वातेरित पल्लवरूपी उँगलियों से अपनी ओर शीघ्रतापूर्वक पहुँचने का आग्रह सा करते दिखते हैं।[२९] वनज्योत्स्ना नामक लता को भी शकुन्तला भगिनी मानती है।[३०] मयूर से मेघ का प्रगाढ़ सुहृद्भाव है।[३१] पुरूरवा-उर्वशी के पुत्र कुमार आयु ने मणिकण्ठ नामक शिखिशावक को अपना सहचर बना रखा है। वह उसे राजभवन भेजने का आग्रह करता है।[३२] शकुन्तला गर्भभारमंथरा मृगवधू के अनघ- प्रसवा होने पर, यह सुखद-समाचार हस्तिनापुर भेजने का आग्रह करती है पिता से![३३]

प्रकृति ही राग और सौन्दर्य का कोषागार (Bank) है। जैसे मनुष्य कोषागार से ही द्रव्य आहृत कर धनी बनता है तथा सुरक्षित, अतिरिक्त धन को उसी में संरक्षित कर देता है ठीक उसी प्रकार, राग और सौन्दर्य का भी विनिमय जड़ एवं चेतन के बीच चलता रहता है। जो सौन्दर्य हमारे हाथ से छूट जाता है (प्रिय-वियोग के कारण) वह भी मूर्तिमान् हो उठता है प्रकृति में।

इन्दुमती के मनोरम वचनोपक्रम, अलसित गति, चंचल चितवन, विभ्रम (हाव-भाव) आदि अज को प्रतिबिम्बित दिखते हैं प्रकृति में ही।

कलमन्यभृतासुभाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां पिहिताः सत्यमया गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः॥
-रघु. ८.५९, ६०

विरही यक्ष को भी प्रियतमा के अंग-प्रत्यंग का दर्शन प्रकृति में ही हो जाता है-

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि! सादृश्यमस्ति॥ -उत्तरमेघ-४१

परन्तु ये सारे उदाहरण स्थूल रूपदर्शन के हैं। महाकवि कालिदास के कवित्व का प्रातिभ चमत्कार तो उन संदर्भों में हैं जहाँ सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेतन-संवेदनायें

भी प्रकृति में ही अन्वित दिखती हैं। समूची विश्वकविता में उसका कोई मानक नहीं मिलता है। उत्तरदिशा (अलकापुरी की ओर) से आती, देवदारु की टूटी टहनियों से निस्सृत ताजे दूध के गन्ध से सनी हवाओं को विरही यक्ष, मात्र इसलिये बाँहों में भर लेता है कि ये हवायें (निश्चय ही प्रियतमा) यक्षिणी के अंगों को छूकर आ रही होंगी। कैसा विचित्र मनोविलास है!

भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं किल यदि भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥ -उत्तरमेघ-४४

चेतन एवं अचेतन के सौन्दर्य को कवि कहीं-कहीं इतना प्रश्लिष्ट (Complex) बना देता है कि दोनों को अलग करके देखना ही असम्भव हो जाता है। शरन्नववधू का ही दृष्टान्त लें–

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरा नतगात्रयष्टिः
प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या॥ -ऋतु. ३.१

काम के लोलता, मदिरता, पाण्डुता, कठिनता, नम्रता, पीनता आदि सारे गुण कैसे एक ही साथ (Simultaneously) एक ही वस्तु में रच-बस गये हैं, यह जटिल संविधानक भी कवि कितनी सहजता से बता देता है–

नेत्रेषु लोलो मदिरोऽलकेषु गण्डेषु पाण्डुः कठिनः स्तनेषु।
मध्येषु निम्नो जघनेषु पीनः स्त्रीणामनङ्गो बहुधा स्थितोऽद्य॥
-ऋतु. ६.१२

वस्तुतः सौन्दर्य का यह प्रश्लिष्टकोटिक वर्णन अनुभूतिप्रवण सहृदयों के लिये हैं। सामान्य सांसारिक जनों के लिये कालिदास भी वही सौन्दर्य परोसते हैं जिसके वे अभ्यस्त हैं–

नितम्बबिम्बैः सदुकूलमेखलैः स्तनैः सहाराभरणैः सचन्दनैः।
शिरोरुहैः स्नानकषायवासितैः स्त्रियो निदाघं शमयन्ति कामिनाम्॥
पयोधराश्चन्दनपङ्कचर्चितास्तुषारगौरार्पितहारशेखराः।
नितम्बदेशाश्च सहेममेखलाः प्रकुर्वते कस्य मनो न सोत्सुकम्॥
-ऋतु. १.४,६

और अन्त में एक विशेष बात। राग का चाहे संयोगपक्ष हो अथवा वियोग, कालिदास नायक एवं नायिका दोनों में उसकी तुल्यावस्था देखना चाहते हैं। यक्ष एवं यक्षिणी, रति एवं काम, शकुन्तला एवं दुष्यन्त, उर्वशी एवं पुरूरवा, यहाँ तक कि उमा एवं हर – दोनों की संयोगात्मक एवं वियोगात्मक अनुभूतियाँ एक जैसी हैं। कामाभिलाष शकुन्तला एवं दुष्यन्त को समान रूप से सन्तप्त करता है।[३४]

विरही यक्ष तो अपनी प्रत्येक व्यथा को यक्षिणी की व्यथा से बड़ी बताता है मानो उसमें भी कोई प्रतिस्पर्धा है–

अङ्केनाङ्कं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
सास्रेणाऽश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥ –मेघ. ३९

राग की व्यथात्मक अनुभूति के ही समान उसकी सुखात्मक अनुभूति भी कालिदास एक सी ही प्रदर्शित करते हैं। शिव-पार्वती के पाणिग्रहण में यह सुखात्मक तुल्यावस्था देखने को मिलती है। जब एक ओर वर का हाथ पसीने से भींग जाता है और वधू का शरीर रोमाञ्च से कण्टकित हो उठता है। आनन्द की तुल्यावस्था का यह अद्‌भुत निदर्शन है–

रोमोद्‌गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत्।
वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य॥

–कुमार. ७.७७

---

१. सविस्तर द्रष्टव्य-नाट्यशास्त्र अ. १३ (६५-७८)

२. द्रष्टव्य : सप्तधारा : विश्वविद्यालय रजतजयन्ती ग्रन्थमाला-४२। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी। २००४ ई.। (नाट्यशास्त्रीय मान्यतायें - भास एवं कालिदास के आलोक में)

३. सोऽर्थस्तद्‌व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥ ध्वन्या. १.८
शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः॥ वक्रोक्ति. १.९

४. सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्चतुरवनितावि्रमैरेव सिद्धः॥ उत्तरमेघ-१०

५. दृष्टो विवृत्य बहुशोऽप्यनया सतृष्णम्। अभि. ३.८

६. अभिमुखे मयि संहृतमीक्षितम् आदि। अभिज्ञान. २.११

७. त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति।। उत्तरमेघ-३२

८. अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे। उत्तरमेघ-४२
उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं बाष्पं कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति।। शाकु. ४.१५

९. चिन्ताजडं दर्शनम्। शाकु. ४.६

१०. हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यः ..... व्यापारयामास विलोचनानि।। कुमार. ३.६७

११. अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्।। अभि. १.१८

१२. शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः।। अभि. १.१५

१३. इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपः क्षमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति।। अभि. १.१६

१४. अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यतिविधिः।। अभि. २.१०

१५. अत्र पयोधरविस्तारयितृ स्वयौवनमुपालभस्व, मां किमुपालभसे?—अभि. अंक-१

१६. विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन् कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।। अभि. ४.१

१७. उर्वशी (वाष्पं विसृज्य)
समाश्वसितु समाश्वसितु महाराजः।
राजा (संज्ञां लब्ध्वा)
प्रिये! अद्य मया जीवितम्!
त्वद् वियोगोद्भवे तन्वि! मया तमसि मज्जता।
दिष्ट्या प्रत्युपलब्धासि चेतनेव गतासुना।। विक्रमो. ४.४१

१८. महार्हशय्यापरिवर्तनच्युतैः स्वकेशपुष्पैरपि या स्म दूयते।
अशेत सा बाहुलतोपधायिनी निषेदुषी स्थाण्डिल एव केवलम्।। कुमार. ५.१२

१९. स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता पराहि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः।। कुमार. ५.२८

२०. अलं विवादेन, यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।।
ममात्रभावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते। कुमार. ५.८२
निर्वायतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।। कुमार. ५.८३

२१. तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुश्शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।। कुमार. ५.८५

२२. परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य मे।
समुद्ररशना चोर्वी सखी च युवयोरियम्।। -शाकु. ३.१७

२३. संकल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्त्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।
चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः।। अभि. ४.१३

२४. इष्टान् देशान् विचर जलद प्रावृषा सम्भृतश्रीर्मा-
भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः।। उत्तर. ५२

२५. सविस्तर द्रष्टव्य - श्रीमद्भागवत, ३.१०

२६. यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः।। उत्तरमेघ-१२

२७. यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।। शाकु. ४.१४

२८. न केवलं तातनियोग एव। अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु। शाकु. प्रथमांक।

२९. एष वातेरितपल्लवाङ्गुलीभिर्मां त्वरयतीव केसरवृक्षकः। वही।

३०. लताभगिनीं वनज्योत्स्नां तावदामन्त्रयिष्ये। शाकु. अंक ४ (अवैमिते तस्यां सोदर्यास्नेहं)

३१. तालैः शिञ्जावलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः।। उत्तरमेघ-१६

३२. यः सुप्तवान् मदङ्के शिखण्डकण्डूयनोपलब्धसुखः।
तं मे जातकलापं प्रेषय मणिकण्ठकं शिखिनम्।। विक्रमो. ५.१३

३३. तात एषोटजपर्यन्तचारिणी गर्भभारमन्थरा मृगवधूर्यदाऽनघप्रसवा भवेत्तदा मां कमपि प्रियनिवेदयितृकं जनं विसर्जयिष्यथ। शाकु. अंक ४

३४. स्तनन्यस्तोशीरं प्रशिथिलमृणालैकवलयं
प्रियायाः साबाधं किमपि कमनीयं वपुरिदम्।
समस्तापः कामं मनसिजनिदाघप्रसरयोर्न
तु ग्रीष्मस्यैवं सुभगमपराद्धं युवतिषु।। शाकु. ३.६
क्षामक्षामकपोलमाननमुरः काठिन्यमुक्तस्तनं
मध्यः क्लान्ततरः प्रकामविनतावंसौ छविः पाण्डुरा।। शाकु. ३.७
तुलनीयम्
इदमशिशिरैरन्तस्तापाद्विवर्णमणीकृतं निशि निशि भुजन्यस्तापाङ्गप्रसारिभिरश्रुभिः।
अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबन्धनात्कनकवलयं स्रस्तं-स्रस्तं मया प्रतिसार्यते।।
-शाकु. ३.१०

३५. कालिदास-समारोह-२००८ के पं. सूर्यनारायणव्यास-स्मृति व्याख्यान में प्रस्तुत मौखिक वक्तव्य (Extempore) का सारांश।